International Journal of Academic Research and Development
ISSN: 2455-4197, Impact Factor: RJIF 5.22
www.academicsjournal.com
Volume 2; Issue 4; July 2017; Page No. 668-671

समकालीन विचारधाराएँ और अस्मितावादी विमर्श

डॉ० संतोष कुमार सिंह
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

पूर्व में 'समकालीनता' पर पर्याप्त बहस हो चुकी है, इसलिए यहाँ पर उसकी विस्तार में चर्चा की जाने की आवश्यकता महसूस नहीं होती है। समकालीनता संबंधी विभिन्न विचारकों के मतों के विश्लेषण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि– अपने समय की समस्याओं, चुनौतियों का सामना करने से समकालीनता उत्पन्न होती है या कुछ ऐसी स्थितियाँ है जो पहले से नितांत भिन्न हैं, नितांत अविच्छिन्न और चारों तरफ से निंरतर हमें अपने घेरे के दायरे में लिये रहती हैं, और इनसे तीव्र क्रिया–प्रतिक्रिया ही समकालीनता है। अब प्रश्न यह उठता है कि समकालीन समस्याएँ कौन सी हैं? और वे कौन से विचार हैं जिनसे क्रिया–प्रतिक्रिया करते हुए हम समकालीन बने रह सकते हैं या वह कौन सी विचारधाराएँ हैं जो समकालीन परिवेश का सृजन करती है और उसे प्रभावित भी करती हैं? इन विचारधाराओं की पहचान जरूरी है। जो पहले से नितांत भिन्न स्थितियाँ हमें घेरती जा रही हैं वे सिर्फ समाज को ही प्रभावित नहीं कर रही हैं बल्कि वे साहित्य, संस्कृति, कला और भाषा को भी प्रभावित कर रही हैं। इसलिए हमारे समय और समाज को प्रभावित करने वाली विचारधाराओं की पहचान नितांत आवश्यक है।

समाज और साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व हैं– आधुनिकता, स्त्री सशक्तीकरण, दलितों की स्थिति, धर्म की भूमिका, नए सांस्कृतिक परिवर्तन जैसे– उत्तर आधुनिकता, भूमण्डलीकरण, उपभोक्तावादी (बाजार आधारित) संस्कृति आदि।

समाज की बदली हुई संवेदना की अभिव्यक्ति तो हुई ही है, साथ ही वहीं कथा साहित्य ने वैश्वीकरण, बाजारीकरण और उत्तर आधुनिक भावबोध वाली स्थितियों को भलीभाँति उकेरा है। 21वीं सदी के प्रथम दशक में उदारीकरण और वैश्वीकरण के कारण शक्तिशाली होते बाजारवाद और उपभोक्तावाद को रचनाकारों ने विधिवत पहचाना। इसलिए इस दौर के कथाकारों ने बाजारवाद, उपभोक्तावाद, इलेक्ट्रानिक मीडिया के जनमानस और संस्कृति पर पड़ने वाले प्रभाव तथा जीवन शैली एवं बाजार के विस्तार से मृत होते मानवीय रिश्तों को अपनी रचनाधर्मिता का प्रमुख विषय बनाया है। प्रौद्योगिकी और तकनीकी विकास के समक्ष बौनी होती मनुष्यता इस युग के रचनाकारों की मुख्य चिंता है। बाजारीकरण के इस माहौल में प्रेम, करुणा, दया, क्षमा जैसे मनुष्य के अस्तित्व बोधक मनोभावों पर घुन लग रहे हैं, मनुष्य अन्ततः सुविधा भोगी होकर अपनी निजता और आत्मा की बलि दे रहा है। बाजार मनुष्य की सुविधाभोगी प्रवृत्तियों से अपने फलने–फूलने का अवसर ढूँढकर मनुष्य की शारीरिक ताकत कम कर रहा है। इस समय का कथा साहित्य इस समस्या का साक्षात्कार बड़े मार्मिक ढंग से कर रहा है।

20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा कला, संगीत, वस्तुशास्त्र, साहित्य और चिंतन में जो परिवर्तन दिखायी देने लगे, उसको परिलक्षित करने वाली कई विचारधाराएँ– उत्तर आधुनिकता, उत्तर औपनिवेशिकता, उत्तर मार्क्सवाद, उपभोक्तावाद, पूँजीवाद, भूमण्डलीकरण और अस्मितावादी विमर्श प्रमुख हैं। ये विचारधाराओं का धरातल बहुत विस्तृत एवं व्यापक है। ये परस्पर संगुफित हैं लेकिन निर्विवाद नहीं है। कभी–कभी ये विचारधाराएं विवाद भी पैदा कर देती है जिसका कारण है– एक ही प्रश्न को अलग–अलग तरीके से उठाना। जैसे अस्मितावादी विमर्शों के संदर्भ में ही सोचे तो यह स्वयं एक विचारधारा है लेकिन दूसरी विचारधाराओं का भी केंद्रीय सवाल बना रहता है। दूसरी बात यह है कि जब हम 'उत्तर' शब्द का प्रयोग करते हैं तो ऐसा कभी नहीं होता है कि इस उत्तर के दौर में पूर्व की विचारधारा न चलती हो, इसलिए उत्तर–पूर्व के मूल्यों में भी टकराव की स्थिति पैदा होती रहती है। इसमें कई ऐसी विचारधाराएं हैं जो अलग–अलग अर्थों में प्रयुक्त की जाती हैं। ये विचारधाराएं वर्तमान समय की एक विचारधारा तो है ही, साथ ही यह एक ऐतिहासिक युग भी संकेत करती है। ये सामाजिक अनुलक्षण का भी द्योतक हैं। इस तरह ये उत्तरवादी सिद्धांत अपनी पूर्व विचारधारा के विरूद्ध उभर कर आते हैं और उसकी समस्त संपदा चिंतन, दर्शन, विचारधारा, व्यवस्था, साहित्य, सभ्यता और मूल्यों को चुनौती दे रहे हैं, क्या इन्हें नकारात्मक रवैया माना जा सकता है ? यानी यह एक ऐसा समय है जिसमें सब कुछ 'उत्तर' हो चुका है या उसके अंत की घोषणा कर दी गई है ?

'उत्तर–आधुनिकतावाद' समकालीन दौर की एक महत्वपूर्ण विचारधारा है। यह शब्द कई भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ दिखायी दे जाता है। उत्तर–आधुनिकतावाद साठ के दशक के उन मुक्ति आंदोलनों से निकला है, जिन्होंने व्यक्ति तथा व्यवस्था, अल्प–समूह तथा वृहत समाज, विचारों तथा विसंगतियों, मूल्यों तथा विधि–विधान, विचारधाराओं, नीतियों, राजनीति, राष्ट्रीयता आदि पर प्रश्न चिन्ह लगा दिए। दलित स्त्री के प्रश्नों, युवा विद्रोह, यौन क्रांति और न जाने कितने छोटे–मोटे आन्दोलनों ने विभेदों और केंद्रीयता के चक्रव्यूह को तोड़कर समाज तथा संस्कृति को विभिन्न विभाजित स्वायत्त संरचनाओं और इकाईयों में बदल दिया।

उत्तर–आधुनिकता भी आधुनिकता की तरह एक दृष्टि है, जो अपने वर्तमान स्वरूप में आधुनिकता की अनेक अवधारणाओं को तिरस्कृत करती विकसित हुई है। सरचनावाद और उत्तर संरचनावाद ने यथार्थ के पुराने प्रचलित अर्थों को संशय के घेरे में ला खड़ा किया है तथा भाषा के कार्य–व्यापार से निर्मित विन्यासों पर भी प्रश्न चिह्न लगाए है। विन्यासों के सत्यासत्य की परीक्षा तो पारम्परिक उपकरणों से भी कर सकते है किन्तु पूर्व विश्लेषित, पूर्व अन्वेषित, पूर्व स्थापित विचारधारा की परीक्षा तो पारस्परिक रूप से की जा सकती है, किन्तु काल के प्रभाव से विस्तृत होने वाले फलक का विश्लेषण एकदम नए उपकरणों के द्वारा करना पड़ेगा।

उपभोक्तावाद और वैश्वीकरण के धरातल पर टिकी उत्तर आधुनिकता ने इतिहास के साथ ही साथ शाश्वत और सनातन सार्वभौमिक मूल्यों की समाप्ति की भी घोषणा कर दी है। लेखक की केन्द्रीय भूमिका से बेदखल करते हुए साहित्यिक कृति के पाठ को सर्वोपरि माना। महाकाव्यों और महावृत्तान्तों पर अविश्वास करते हुए हर व्यक्ति को अपनी तरह सोचने, चिन्तन करने, विचार करने एवं अभिव्यक्ति करने की स्वतंत्रता मिल गयी। इसलिए इस दौर के

सभी लेखक अपनी रचनाओं में वह सब कुछ दर्ज कर रहा है जिसे पूर्व में दिन के उजाले में वह सोच व कल्पना भी नहीं कर सकता था।

अरनाल्ड टोयन्वी ने 'उत्तर–आधुनिकता' पद का प्रयोग सबसे पहली बार किया था। 1979 ई0 में ल्योतार ने अपनी पुस्तक 'दि पोस्ट मोडर्न कन्डीशन' (The Post-Modern Condition) में इसे केवल सृजनात्मक पद्धति ही नहीं, जातीय अवधारणा के रूप में स्वीकार कर उसके दो उद्देश्य– महान वृत्तान्तों को अविश्वसनीय और उदारता के मिथक को तोड़ना है। ल्योतार के अलावा फूको, देरिदा बोड्रिलाईर और जेमेसन, नेन्सी फ्रेसर और लिंडा निकोलसन मुख्य उत्तर आधुनिकतावादी विचारक है। हिन्दी साहित्य में उत्तर आधुनिकता का प्रवेश ही नहीं हुआ है, बल्कि यहाँ पर वह दृढ़ता से स्थापित भी हो गया है। सुधीश पचौरी तो एक कदम और आगे बढ़कर कहते हैं कि उत्तर आधुनिकता हमारे जीवन में भी प्रवेश कर गई है। उनका कहना है कि– ''समाज उत्तर आधुनिक स्थितियों में दाखिल हो चुका है। हमारे अनुभव उत्तर–आधुनिक बन रहे हैं। हमारी बहसों में अचेत रूप में हमारे बदलते हुए जगत के चित्र आने लगे हैं।''[1] उत्तर आधुनिकता किसी निश्चित मानदण्ड को स्वीकार नहीं करती है और कृति की कालजयिता को नकारती है। यह लेखक की विचारधारा को महत्व न देकर पाठक को महत्व देती है। 'साहित्य समीक्षा' के स्थान पर 'विमर्श विश्लेषक' को जन्म देती है।

आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता के अन्तर्सम्बंधों को उदार रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रो0 पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु का कहना है कि– ''उत्तर आधुनिकता आधुनिकता की विरोधिनी है। इसके विरोध में उपस्थित होने के आधार है। यह सम्पूर्णता (टोटेलिटी) की अवधारणा को तोड़ती है, उस पर प्रहार करती है और आधुनिकता को खारिज करती है। आधुनिकता के मूल में जहाँ विवेक (रेशनेल) है, वहाँ उत्तर–आधुनिकता के मूल में इच्छा (विल) है। आधुनिकता अपनी श्रेष्ठ पारम्परिकता के प्रति प्रत्यागमन करती है, पर उत्तर–आधुनिकता हर तरफ से अपने को ऐतिह्य अतीत से मुक्त करती है। आधुनिकता में कुछ प्राचीन मूल्यों ने पुनर्जन्म प्राप्त किया था। यहाँ कई श्रेव्य केन्द्रित हैं। यह उसकी कालिक चेतना का स्वरूप है। आधुनिकता में 'विचारधारा' (आइडियोलॉजी) को स्थान प्राप्त था, पर उत्तर–आधुनिकता विचारधारा की समाप्ति की घोषणा है।''[2]

उत्तर–आधुनिकता ने विचारधारा और वर्ग संघर्ष जैसी अवधारणाओं को संकटग्रस्त कर दिया है। यथार्थवादी सिद्धान्तों पर भी प्रहार किये हैं। संघर्ष की दृष्टि से उत्तर–आधुनिकता स्त्रीवादी संघर्ष, युवा संस्कृति और बेरोजगार युवाओं के संघर्ष तथा काले व्यक्तियों के संघर्ष की बात करती है। विचारधारागत संघर्ष को उत्तर–आधुनिकता ने समाप्त कर दिया है। प्रो0 शीतांशु की मान्यता है कि– ''उत्तर–आधुनिकता का सरोकार एक ओर सर्जनात्मक लेखन से है तो दूसरी ओर उसके मूल्यांकन की आलोचनात्मक प्रक्रिया से भी।''[3] भारतीय समाज में उत्तर–आधुनिकता एक फैशनेबल अवधारणा बन गई है। आज हमारे विचारों में बहुत बड़ा बदलाव आया है। विगत वर्षों में जो कुछ और जैसा कुछ हम सोचते थे, आज वह सब बदल गया है। आज के समय में शक्ति उनके पास होती है जिनके पास डिस्कोर्स यानी तार्किक ज्ञान होता है। यही उत्तर–आधुनिकता है। विकेन्द्रिता या विखण्डन, असंतता और बेतरतीब परिवर्तन इस विचारधारा के केन्द्र है। यह अन्तर में विश्वास रखती है और अनेकता को अपना मुहावरा समझती है।

7वें दशक में रोलावार्थ की पुस्तक 'द डैथ ऑफ द ऑथर' का प्रकाशित होना, फ्रेंक कर्मोड़ का वर्तमान युग को 'अंत के अहसास' का युग कहा जाना, और इतिहास के अंत के साथ ही 'ईश्वर की मृत्यु' की घोषण की जाने लगी थी। इसी दौर में उत्तर–संरचनावादी व उत्तर–आधुनिकतावादी लेखक देरिता ने 'विखण्डनवाद' (Deconstruction) की अवधारणा रखी साथ ही विकसित तकनीक ने जनसंचार की अदृश्य केन्द्रियता को तोड़ा। देरिदा ने उत्तर–आधुनिकता के विखण्डनवाद के साथ जोड़ा। जिसका प्रभाव साहित्य, कला, फिल्म और समीक्षा के साथ हुआ। विखण्डनवाद ने सर्वाधिक प्रहार पूर्व स्थापित एवं चिर परिचित प्रारम्भिक ग्रंथों पर किया। जिनके पीछे उनका अपना तर्क था कि ये ग्रन्थ सामाजिक यथार्थ को प्रकट नहीं करते, इसमें वर्णित यथार्थ वास्तविक ही हों, यह आवश्यक नहीं।

उत्तर–आधुनिकता इतिहास की चेतना को नकारती है। यह व्यतीत की घटनाओं की केन्द्रीयता को अस्वीकारती है, शुद्ध इतिहास का निषेध करती है। बिन्दुवारिता (टू द पोइंट) और काल केन्द्रियता (आन टाइम) को काटती है। इसकी जगह यह घटनीयता (ऐवेन चुअलिटी), असमय परकता, कालदोषता को महत्व देती है। आधुनिकता की गिरफ्त से मुक्ति कराती है। यह बहुसंस्कृतिक होती है। इसका नारा है– ''तैयार मत रहो (बी0 अनप्रिपेयर्ड)'' इस प्रकार आधुनिकता जहाँ 'शुद्ध इतिहास' को पुरस्कृत करती है, उत्तर–आधुनिकता उसे तिरस्कृत करती है। भौगोलिक दृष्टि से आधुनिकता जहाँ राष्ट्र की सीमा को रेखांकित करती है और राष्ट्रीयता को महत्व देती है। वहीं उत्तर–आधुनिकता इस सीमात को मिटाती है। वह वैश्विक नागरिकता की ओर गमन करती है और अन्तराष्ट्रीय चेतना की कवायद करती है।

इस दौर की दूसरी महत्वपूर्ण विचारधारा 'उत्तर–औपनिवेशिकतावाद' है। जिसकी परिभाषा अमेरिकी हेरिटेज शब्दकोश के अनुसार कुछ इस प्रकार है– ''किसी उपनिवेश के स्वतंत्र होने के समय के बाद का या उससे सम्बन्धित।''[4] यह विचारधारा भी उत्तर संरचनावाद से प्रभावित मानी जाती है। उत्तर–आधुनिकता भी उत्तर संरचनावाद से प्रभावित है। इसकी चर्चा पहले ही हो गयी हैं इस चिंतन का क्षेत्र वैश्विक है। उत्तर–उपनिवेशवाद का जन्म तो पश्चिम में हुआ, लेकिन इसकी चिन्ता के केन्द्र में उपनिवेशित राष्ट्र यानी पूरब रहा है। एक तरह से उत्तर उपनिवेशवाद साम्राजयवादी राष्ट्रों की अपने भूतपूर्व उपनिवेशों के साथ जो आर्थिक, सांस्कृतिक नीतियाँ हैं, उनका लक्ष्य उन्हें नए–नए तरीकों से नव–उपनिवेशन में ढालना है। साम्राज्यवादी राष्ट्र अब गैर जनतांत्रिक तरीकों से उनका उपनिवेशन नहीं कर सकते, इसलिए उन्होंने वैश्विक पूँजी के संस्थानीकरण वैधीकरण द्वारा नव उपनिवेशवाद की ओर आकर्षित हो रहे हैं। ''हम उत्तर औपनिवेशिक पद का प्रयोग समूची संस्कृति पर साम्राज्यवादी प्रक्रिया (उपनिवेश कायम करने के समय से लेकर आज तक) के प्रभावों को समेटने के अर्थ में करते हैं, इसलिए कि यूरोपीय साम्राजयवाद हमले से आरम्भ हुई ऐतिहासिक प्रक्रिया से संलग्न निरंतरताएं कायम है।''[5] शक्तिशाली देश अपनी आर्थिक सांस्कृतिक नीतियों द्वारा तीसरी दुनिया का नव औपनिवेशीकरण करने में जुटे हैं तथा उन पर अपनी मनमानी नीतियाँ, शर्तें थोप रहे हैं। यू0 पोपोव ने नवउपनिवेशवाद यानी नवसाम्राज्यवाद के इस वास्तविक क्रूर चेहरे को पहचानते हुए टिप्पणी करते हैं कि– ''नवउपनिवेशवाद साम्राज्यवादी शोषण के आर्थिक, राजनीतिक, विधिक, वैचारिक, सैनिक इत्यादि सम्बंधों की वह प्रणाली है, जो विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में विकासमान देशों की असमानतापूर्ण स्थिति पर आधारित है। नवउपनिवेशवाद का भौतिक आधार अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी श्रम विभाजन और विकासमान देशों की साम्राज्यवादी देशों की आर्थिक निर्भरता है।''[6]

इक्कीसवीं सदी में साम्राज्यवादी देशों के बदलते हुए चरित्र एवं स्वरूप को पहचानते हुए विकास, प्रगति, आर्थिक सहयोग सहायता के पीछे छिपी उनकी दमनकारी, नवउपनिवेशवादी विचारधारा ही देती है कि यूरो–अमेरीकी छल–छद्म आज विश्व वित्तीय संस्थानों के माध्यम से काम कर रहा जिसके पीछे तीसरी दुनिया का नवउपनिवेशन है। यह एक तरह से नवसाम्राज्यवाद सांस्कृतिक,

राजनीतिक वर्चस्व भी है जिसके जरिये वे विकासशील देशों को नियंत्रित, अनुशासित कर रहे हैं। टेक्नालॉजी, भूमण्डलीकरण, नवउदारीकरण, वित्ततीय पूंजी के संस्थानीवाद, कॉर्पोरेटीकरण, जनतांत्रिकीकरण के नाम पर वे आज पूरी दुनिया को नियंत्रित व अनुकूलित कर रहे है ताकि एक दिन पूरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा किया जा सके तथा उन देशों को पूरी तरह नियंत्रण में लिया जा सके। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्वव्यापार संगठन, विश्व वित्तीय संस्थाएं, आर्थिक सहायता, सहयोग, विकास के नाम पर जो करोड़ों–अरबों डालर का ऋण प्रदान कर रही हैं उसके पीछे भी उत्तर औपनिवेशिकतावाद की विचारधारा काम कर रही है, ताकि ये देश कभी आत्मनिर्भर, स्वतंत्र एवं शक्ति सम्पन्न न बन सके। इसके लिए वे राजनीतिक, सांस्कृतिक हस्तक्षेप भी करती है तथा अपनी नीतियों को लागू करने के आदेश, निर्देश भी देती हैं। यह सारा काम उत्तर उपनिवेशवाद को मजबूत करने के लिए किया जा रहा है।

उत्तर उपनिवेशवाद की विचारधारा यही है कि दुनिया में ऐसी स्थानीय सरकारें गठित करो जो महज कठपुतली हों। जो उनकी नीतियों, सिद्धान्तों, समझौतो, आदेशों को कमर तक झुककर पालन करें। नवसाम्राजयवाद केवल आर्थिक वर्चस्व ही नहीं, राजनीतिक नियंत्रण भी चाहता है। यह एक नयी तरह का नवउपनिवेशवाद है। बाजार और व्यापार इसका आर्थिक पक्ष है, सांस्कृतिक और राजनीतिक नवउपनिवेशन उसका सांस्कृतिक पक्ष है। आर्थिक हितों के साथ–साथ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर भी वह हमें नियंत्रित अनुशासित कर रहा है। वित्तीय सहायता, ऋण सुविधाओं, आर्थिक सहयोग द्वारा वह राष्ट्र प्रभुओं को गुलाम बना रहा है। यही कारण है कि आज भारत पर अरबों–खरबों रूपये का पहाड़ जैसा कर्जा चढ़ा है। यही स्थिति तीसरी दुनिया के देशों की है। चीन इसका अपवाद है।

जब भारतीय राष्ट्र राज्य के इतिहास पर विचार करते है तो दिखायी देता है कि नेहरू के नेतृत्व में भारत जिस रूप में उभरा वह उनकी कुलीनतावादी आधुनिक दृष्टि का ही परिणाम था। नेहरू ने गांधी की ग्राम्य संस्कृति की अवधारणा को भी पूरी तरह से अवहेलना की तथा उनके सांस्कृतिक मॉडल को भी नजरअंदाज कर दिया। नेहरू की समाजवादी विचारधारा पर उनका आभिजात्यवादी कुलीनतावाद आधुनिकातवाद हावी था। रामशरण जोशी नेहरू कालीन भारत की समीक्षा करते हए कहते हैं कि– ''नेहरू की प्रगतिशीलता मूलतः कुलीनतावादी, रूहानी और परदेशी किस्म की थी। नेहरू की इस मानसिकता ने उन्हें भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक ढांचे में बुनियादी बदलाव लाने के लिए हमेशा रोका। वे देश में आजन्म एक छद्म समाजवादी धारा बहाते रहे। दरअसल उनका लोकतंत्र कुलीनवादी था और केवल कुछ वर्गों और जातियों तक सीमित था। शासक वर्ग ने इस कुलीनवादी लोकतंत्र को भी तंत्रों का दोहन निरंकुशता के साथ किया है। ...... नेहरू के बाद वाले नेतृत्व को भी कुलीनवादी विरासत मिली, लेकिन चुनौतियों का सामना करने के लिए उसे भिन्न शैली अपनानी पड़ी।''[7]

दरअसल आजादी के बाद के भारत के पास कोई ठोस आर्थिक, सांस्कृतिक नीतियां नहीं थीं। केवल सत्ता में बने रहने के लिए नेहरू के उत्तराधिकारियों ने यथास्थितिवाद को मजबूत किया। विरोधी दल भी कांग्रेस का विकल्प बनने की कोशिश में लगे रहे। दूसरी तरफ हाशियों के नये उभार ने राष्ट्र के समीकरण को चुनौती दी तथा दलितों, पिछड़ों, आदिवासी आन्दोलनों तथा क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने उस कुलीनतावादी वर्चस्व को चुनौती भी दी। देश भर में मंडल कमीशन लागू करने के प्रति तत्कालीन सरकार को जिस प्रकार चुनौती मिली उससे भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में नए क्रान्तिकारी परिवर्तन, नए–नए राजनीतिक गठबंधन, समीकरण अवश्य हुए, लेकिन ठोस आर्थिक, सांस्कृतिक नीतियों के अभाव में देश में अस्थिरता, अराजकता का माहौल भी बना रहा। सरकार की फासीवादी, लोकतंत्र विरोधी नीतियों के कारण ही देश में आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, खालिस्तान की मांग, ब्लूस्टार आपरेशन, दिल्ली दंगे, बाबरी मस्जिद काण्ड, गोधरा काण्ड जैसी नृशंस घटनाएं भी हुई जिनकी परिणति इन्दिरा गांधी, राजीव गांधी हत्याकाण्ड के रूप में हुई। दूरदर्शी नेतृत्व के अभाव में हमारे आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रश्न हाशिए पर चले गए तथा राजनीतिक अस्थिरता का माहौल बना रहा। ये सभी उत्तर औपनिवेशिक काल का ही परिणाम है। उत्तर औपनिवेशकतावाद साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में उपनिवेशवाद की परिघटना को केन्द्र में रखकर चलता है। यूरोपीय साम्राज्यवाद के इतिहास ने उपनिवेशों के भीतर कितने जटिल और व्यापक परिवर्तनों को अंजाम दिया और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की औपनिवेशिक प्रभाव साहित्य, कला, संस्कृति, समाज, भाषा पर कितना पड़ा; यह इस विमर्श के केन्द्र में है।

उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत के रूप में प्रणय कृष्ण निम्नलिखित परिघटनाओं को महत्वपूर्ण मानते हैं– ''1. उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष 2. नस्लवाद विरोधी संघर्ष, 3. गुट निरपेक्ष आन्दोलन और तीसरी दुनिया की एकता, 4. उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद की उत्तर औपनिवेशिक राज्य व्यवस्थाएं और समाज, 5. नवउपनिवेशवाद और भूमण्डलीकरण के दौर की विश्व परिस्थिति जैसी परिघटनाएं।''[8] वे पुनः लिखते है कि– ''उत्तर–औपनिवेशिक विमर्श अपने सर्वोत्तम रूप में साम्राज्यवादी पश्चिम यूरोप द्वारा उपनिवेश बना लिए गए तीसरी दुनिया की जनता के अनुभव और यथार्थ को विकृत किये जाने, उन्हें हीन बनाकर छुड़ा लाने की सांस्कृतिक कोशिश है। वह दूसरों द्वारा दी गयी पहचान से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने का उपक्रम है।''[9]

एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक ओरियंटियलिज्म (1978 ई0) में उत्तर औपनिवेशिकता के संदर्भ में लिखते हैं– ''दरअसल पश्चिम में यह मान्यता थी कि पूरब अपनी प्रस्तुती नहीं कर सकता था, अपना व्याख्याता नहीं गढ़ सकता था। अर्थात् पश्चिमी ज्ञान, साम्राज्यवादी ताकत और इरादों के बिना यह आविष्कृत एवं निर्मित नहीं हो सकता था।''[10] सईद का मानना था कि पुराने ढंग का साम्राज्यवाद तो नष्ट हो चुका है, किन्तु उसकी मानसिकता बची हुई है। सईद ने 'प्राच्यवाद' की अवधारणा से इस साम्राज्यवादी मानसिकता पर प्रहार किया और पश्चिम की यूरोप केन्द्रित शाश्वतता को प्रश्नांकित किया। सईद का मानना था कि 'प्राच्यवाद' पूरब को हीन दिखाने की साजिश है।

भारतीय संदर्भ में देखा जाय तो औपनिवेशिक शासन में अंग्रेजों द्वारा किये गए कार्यों की वृत्ति को नकार दिया जाता है लेकिन उनकी बनायी व्यवस्था और प्रशासनिक ढाँचे को नहीं नकार पाते हैं। बल्कि आज की प्रशासनिक व्यवस्था, औद्योगीकरण और शिक्षण संस्थाएं उनका विस्तार ही है। इस तरह से हमारे यहाँ पश्चिमी मूल्यों एवं संस्कृति के स्वीकार अस्वीकार के बीच बहस चलती रहती है। लेकिन समकालीन साहित्य उन ध्वंसावशेषों का गुणगान नहीं करता है बल्कि उस शासन व्यवस्था से शोषित–पीड़ित जनता की आवाज उठाता है और पश्चिमी सभ्यता संस्कृति पर हमला करता है। लेकिन अस्मितावादी विमर्श पश्चिमी मूल्यों का समर्थन भी करता है। दरअसल पश्चिमी मूल्य, परम्परागत मूल्यों पर चोट करते हैं और हाशिए के समाज को काफी हद तक पितृक व्यवस्था ब्राह्मणवादी व्यवस्था से मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, एस0एल0 दोषी, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली,

रिप्रिन्टेड–2003, पृ0 152।
2. आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता, गंगाप्रसाद विमल, नयी किताब प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–2012, पृ0 252
3. वही, पृ0 253।
4. उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी संदर्भ, पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2010, पृ0 24।
5. उत्तर औपनिवेशिका के स्रोत और हिन्दी साहित्य, प्रणय कृष्ण, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2008, पृ0 17।
6. वही, पृ0 19।
7. उत्तर उपनिवेशवाद : चुनौतियाँ और विकल्प, राकेश कुमार, शुभदा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण–2014, पृ0 12।
8. उत्तर उपनिवेशवाद, चुनौतियाँ और विकल्प, राकेश कुमार, शुभदा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2014, पृ0 54–55।
9. उत्तर औपनिवेशिका के स्रोत और हिन्दी साहित्य, प्रणय कृष्ण, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2008, पृ0 35 वही, पृ0 22।